तित्थयर

सत्रहवाँ वर्ष । अप्रैल १९९४ । द्वादश अंक

जैन भवन

तित्थयर

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र
वर्ष १७ : अंक १२
अप्रैल १९९४

☐

संपादन
राजकुमारी बेगानी
लता बोथरा

☐

आजीवन : एक सौ एक
वार्षिक शुल्क : दस रुपये
प्रस्तुत अंक : एक रुपया

☐

प्रकाशक
जैन भवन
पी-२५, कलाकार स्ट्रीट,
कलकत्ता-७०००७

☐

मुद्रक
अनुप्रिया प्रिन्टर्स
६ ए, बड़ौदा ठाकुर लेन
कलकत्ता-७

सूची

जैन रामकथा का स्वरुप व विकास ३५५
जैन परम्परा और चित्तौड़ ३६१
खजुराहो का पार्श्वनाथ मन्दिर ३६६
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र ३७१
संकलन ३८१

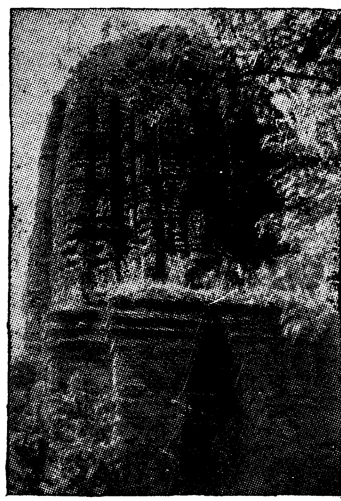

जैन मन्दिर, मेमारी, पश्चिम बंगाल

जैन रामकथा का स्वरूप व विकास

डा० शान्तिलाल खेमचन्द शाह

(पूर्वानुवृत्ति)

जैन रामकथा में धर्म प्रचार की मान्यता

जैन रामकथा को केवल धर्म प्रचार का साधन कहना सरासर अन्याय है। इस प्रकार का आरोप वाल्मीकि या तुलसी की रचनाओं पर भी किया जा सकता है। दोनों रामकथाओं में धर्म-प्रचार की इतनी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है जिससे उनमें धर्म प्रचार का लक्ष्य सामने आ जाता है। पर यथार्थता से यह बात सिद्ध नहीं होती। रामकथा धर्मपुरुष की कथा है। पर युग में धर्मपुरुष की जीवनी की किरणें इसी प्रकार जगमगाती रहती है और उनसे वह युग आलोकित होता रहता है। उस युग के आचरण, विचार, संस्कार, मान्यताएँ, दर्शन आदि का स्वरूप अवश्य ही उस धर्मपुरुष की जीवनी से प्रकट होते रहे। यों कहना चाहिए कि वह पुरुष उस युग पर छा जाता रहा और युग भी उसके अनुरूप बनता रहा है। यह भी हमें सोचना चाहिये कि रामकथा केवल वैदिक परम्परा की ही मात्र कथा नहीं है" बाल्मीकि की काव्य प्रतिभा से प्रस्फुटित होने पर भी वह स्वतन्त्र रूप से बौद्ध, जैन वर्णित रामकथाओं के साथ विदेशों में पहुंची हुई कथा है इसलिए उसमें दिखाई देने वाला वैशिष्ट्य इष्ट एवं बांचनीय है।

रामकथा का वैविध्य इष्ट एवं उपादेय है

तिब्बती रामायण, तुर्कस्थान की खोतानी रामायण, हिन्देशिया का रामायण, कावित सेरत काम, रे आम केर रामायण आदि रचनाओं में रामकथा की विविधता, विशेषता और व्यापकता एवं विचित्रता आदि बातें सामने आती हैं। और प्रतीत होता है कि रामकथा का यह वैविध्य वास्तव में उसकी गरिमा को बढ़ाता है। यह संशयातीत है कि किसी भी कथा का इतने व्यापक क्षेत्र में प्रसार होना महत्त्वपूर्ण एवं गौरव की बात है। इसका प्रमुख कारण उस कथा का अपने ढंग से किया गया विकास है। यह विकास केवल महाकाव्य की दृष्टि से तथा काव्य की दृष्टि से ही उपादेय नहीं है अपितु भारत की विविधता में पाई जानेवाली एकता को जानने के लिए भी परमावश्यक हैं।

जैन रामकथाओं की उपेक्षा के कारण

जैन संस्कृति हिन्दू संस्कृति का विद्रोही बालक है।

इस प्रकार की मान्यता के कारण जैन संस्कृति के बारे में जैनेतर विद्वानों में अज्ञान बढ़ता रहा। आधुनिक अनुसन्धान से ये बातें गलत सिद्ध होने पर भी विद्वानों ने उसकी उपेक्षा ही की है। हमारा प्रयत्न इस उपेक्षा को दूर करने का है।

जिस समय पशु बलि का जोर शोर से समर्थन होता था उस समय पशुबलि के विरोधक और आत्मविद्या के समर्थक जनक तथा याज्ञवल्क्य आदि जैन संस्कृति के समीप पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं। डॉ० राधाकृष्णन तो यहाँ तक कहते हैं "हम निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं कि जैन धर्म यदि वैदिक धर्म से प्राचीन नहीं है। तो कम से कम वह वैदिक धर्म के समान पुराना तो है ही। १

एक कारण यह भी दिया जाता है कि जैन रामायण में रामचरित्र एवं पात्रों के बारे में मिलनेवाली भिन्नता उपलब्ध होती है। जिससे आवेश के कारण पाठक के मन में इस प्रकार की बातें आती हैं। जैसे—

१. हमारी बाल्मीकि रामकथा को जैनियों ने विपरीत रूप दिया है।

२. राम प्रभु और अवतार हैं पर उनका महत्त्व इन्होंने घटाकर उसे जैन मुनि बनाया है।

३. एक पत्नीव्रती राम को ८००० पत्नियों का पति बताया है तथा ब्रह्मचारी हनुमान को गृहस्थ बना दिया है।

४. लक्ष्मण को नर्क में डाल दिया है।

५. यज्ञयाग एवं ब्राह्मणधर्म के विपरीत अहिंसापूर्ण जैन धर्म का प्रचार किया है।

इस प्रकार की मान्यताओं के कारण जैन रामायण को समझने के लिए आवश्यक धैर्य का सम्पूर्ण अभाव हमें दिखता है और फिर जैन धर्म मूलक अज्ञान के कारण इन भावनाओं से उत्तेजना इतनी बढ़ती है कि इनके अध्ययन की उपेक्षा की जाती है।

वास्तव में जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति ही है और उसके श्रोत प्राचीन काल में भी उपलब्ध होते हैं।

---

1. We may make bold to say that Jainism, the religion of Ahimsa is probably as old as Vaidic religion if not older.
Dr. S. Radhakrishnan—Cultural Heritage of India· Vol· I. Page 185, 1930.

१. रायबहादुर ए-चक्रवर्ती ने भारतवर्ष के मूल निवासियों के बारे में लिखा है—

"यहाँ के उन मूल निवासियों के लिए वेदों में जो शब्द आये हैं उनमें से एक घृणित शब्दों का वाची "दस्यु" एवं "दास" है। उन लोगों ने आर्यों का प्रतिरोध किया इसलिए शत्रुओं का निन्दनीय वर्णन आर्यों के द्वारा किया गया। तथाकथित "दस्यु" लोगों का धर्म, संस्कृति और वर्ण पृथक् था। उनका वर्ण श्याम था। वे यज्ञबलिविहीन थे। वैदिक क्रियाकाण्ड को नहीं मानते थे। उनकी देव विषयक अपनी मान्यताएँ भी भिन्न थीं। व्रत और आचारों आदि में भी आर्यों से उनकी काफी भिन्नता थी। वे वैदिक देवताओं का तिरस्कार करते थे। इस प्रकार आर्यों के देवताओं, यज्ञों तथा धार्मिक विचारों का प्रकट रूप में निषेध करने के कारण वे अयज्वन्, अकर्मन्, अदेव्य, अन्यव्रत, देवपियु, "अनोस" आदि कहलाये। इन मूल निवासियों की भाषा स्पष्ट या संस्कृत से विरुद्ध होने से मृध्र-वाक् कहलाई। यह भाषा प्राकृत थी जिसके माध्यम से वे अपना धार्मिक साहित्य प्रचारित करते थे। यह भाषा प्राचीन तमिल भाषा के अधिक सन्निकट है टोलक-प्येयम नामक ग्रन्थ से इन सारी बातों का समर्थन मिलत है।" १

इस अवतरण से इतना तो अवश्य प्रमाणित होता है कि आर्यों के आगमन के पूर्व ही प्रचलित इन प्राकृत भाषाओं का भारतीय संस्कृति और धर्म की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। ये भाषाएँ आर्यो का विस्तार स्थान छोड़ सारे भारत में परिव्याप्त थी इसलिये भारतीय संस्कृति के समस्त पहलुओं को समझने में जैन संस्कृति तथा उसके प्राकृत वाङ्मय की उपेक्षा करने से ज्ञानार्जन में बाधा पहुंचेगी।

प्रो० चक्रवर्ती महोदय के इस लेख के अलावा भी आज ऐसे साधन उपलब्ध हुए हैं कि जो जैन संस्कृति को कम से कम वैदिक संस्कृति के साथ साथ पनपती हुई बताने में समर्थ हैं।

२. मोहन-जो-दडो तथा हड़प्पा की खुदाई से उपलब्ध सामग्री में जैन परम्परा की प्राचीनता पर प्रकाश डालने वाली सामग्री मिली है जिसे विद्वानों ने अपनी मान्यता प्रदान की है। डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार मुहर नं० ४४९ में "जिनेश्वर" शब्द पढ़ते हैं। २

---

१. Rai Bahadur A Chrkrabarti—Yesterday and to-day : Glimpses of Ancient India, 1925, Page 59

२. सुमेरचन्द्र दिवाकर—जैनशासन, पृ० २०३, ई० १९४७

३. रायबहादुर रामप्रसाद चन्दा का कथन है कि "प्लेट ११ एफ० जी० डी० पी० १५९ में खुदी हुई आकृति की अवस्था इण्डस के मुहरों पर खड़े हुए देवताओं जैसी है। तत्कालिन इजिप्शियन शिल्पों में प्रकट प्राचीन राजवंशों में (III IV) दोनों तरफ लटकते हाथों वाली मूर्तियाँ थीं। ये इजिप्त की मूर्तियाँ और ग्रीक मूर्तियाँ उसी प्रकार के हाव भाव बताती हैं फिर भी इण्डस मुहरों पर खड़ी आकृतियों में विशेषता के रूप में जो त्यागभावना दिखाई देती है उसका इसमें सम्पूर्ण अभाव है। तीन से पांच नम्बर की जी एच आकृति से अभिव्यक्त जिनेन्द्र के सामने ही बैल का चिह्न है वह आकृति ऋषभदेव की है। १

इससे प्राचीन भारतीय संस्कृति से जैन संस्कृति कितनी सम्बद्ध थी इसका दिग्दर्शन होता है।

४. मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई में महत्वपूर्ण पुरातत्व की सामग्री के साथ शिलालेख भी मिले हैं। उसमें एक खड्गासनधारी देवमूर्ति के आसनपर लिखा हुआ है—

"यह अर तीर्थंकर की प्रतिमा सं० ७८ में देवों के द्वारा निर्माणित स्तूप की सीमा के भीतर स्थापित की गई।"२

जिस स्तूप में से यह मूर्ति निकली उसके बारे में म्युजियम रिपोर्ट में लिखा है।

यह स्तूप इतना प्राचीन है कि इसके लेख की रचना के समय स्तूप आदि का वृत्तान्त विस्मृत हो गया होगा। लिपि की दृष्टि से यह लेख इण्डोसिथियन शक अर्थात् १५० ईसवी सिद्ध होता है। इसलिए ईसवी के अनेक शताब्दियों पूर्व यह स्तूप बनाया गया होगा। इसका कारण यह है कि यदि इसकी उस समय रचना की गई होती तो इसके निर्माताओं का भी नाम उस पर अवश्य मिलता। ३

---

१. रायबहादुर रामप्रसाद चन्दा—"जैन विद्या" लाहोर, वाल्युम १ पृ० १।

२. पं० सुमेरचन्द जैन—जैनशासन पृ० २४७ (सन् १९६२ ई०)

३. The stup was so ancient that at the time when the inscription was inscribed, its original had been forgotten on the evidence of its character. The date of the inscription may be referred with certainly to the Indo—Scythian era and is equivalent to A. D. 150. The stup must therefore have been built several centuries before the beginning of christian era, for the name of its builder would assuredly have been known if it had been erected during the period when the Jains in Mutra carefully kept record of their donation. Museum Report 1890-91

जैन शासन—सुमेरुचन्द्र दिवाकर पृ० २७९

५. मोहन-जो-दारो एवं हड़प्पा की खुदाई में से प्राप्त मूर्तियों में मथुरा की मूर्ति में पाया जाने वाला ऋषभदेव का सूचक बैल चिह्न देखकर फरलांग साहब का कथन है कि—

"सम्पूर्ण ऊपरी विभाग अर्थात् पश्चिम, उत्तर और मध्य प्रदेशों में अज्ञात प्राचीन काल से तुरानियों का राज्य था। रूढ़ि के अनुसार वे द्रविड़ कहलाते थे। वे सांप, नाग आदि की पूजा करते थे पर प्राचीन भारत के ऊपरी विभाग में अति प्राचीनकाल से एक बड़ा सुव्यवस्थित धर्म विद्यमान था। उसका अपना ऊँचा तत्वज्ञान एवं नीतिधर्म था। वह अति उग्र तपश्चर्या का समर्थन करने वाला था और उसका ही नाम जैन धर्म था। इससे ही आगे चलकर ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म को अध्यात्मवादी स्वरूप स्पष्ट रूप से प्राप्त हुआ। आर्यों के गंगा या सरस्वती नदियों तक पहुँचने के पूर्वकालीन इतिहास काल के बहुत समय पूर्व ही जैनियों के बाईस बोधी श्रमण एवं तीर्थंकर हुए जिनके द्वारा धर्मोपदेश दिया गया है और तेईसवें पार्श्वनाथ ईसवी पूर्व आठवी शताब्दी में हुए थें इसलिए जैन धर्म के मूल स्रोत का पता लगाना असम्भव है। १

६. प्राचीन उत्कल याने उड़िसा प्रान्त में पूरी जिले में उदयगिरी जैन मन्दिर का हाथी गुंफावाला शिलालेख जैन रामायण संस्कृति अर्थात् जैन संस्कृति की प्राचीनता की दृष्टि से असाधारण एवं महत्त्वपूर्ण है। इस लेख में 'नमो

---

१. All upper, western, northern, central India was then 15C00 to 8)0 B. C. and indeed from unknown times ruled by Turanians conventionally called Dravids and given to trees, Serpents, Phalikworship, but there was also existing throughout upper India an ancient and highly organised religion, philosophical ethical and severely ascetical viz. Jainism Out of which, clearly developed the early ascetical features of Brahmanism and Buddhism. Long before the Aryas reached the Ganges or even Sarswati Jains had been taught by some twenty two Bodhas Saints or Tirthankaras prior to historical 23rd Bodha Parshva of 8th or 9th century B C. It is impossible to find the beginning of Jainism.

Prof. Forlong-Short Studies in the Science of Comparative Religioh, Page 243-44

जैन शासन—सुमेरचन्द दिवाकर, पृ० २९४।

अरिहंताणं, नमो सव्वसिद्धाणं" वाक्यों के द्वारा जैन धर्म का असंदिग्ध बोध होता है। उसमें लिखा गया है कि महामेघवाहन महाराजा खारवेल मगध देश के अधिपति पुष्यमित्र से भगवान वृषभदेव की मूर्ति वापस ले आये। तीन सौ वर्ष पूर्व मगधाधिपति नन्दनरेश उस मूर्ति को अपने साथ कलिंग से ले गये थे। यह लेख अब तक के उपलब्ध शिलालेखों में अति महत्त्वपूर्ण है।

७. यहाँ हम गुजरात के एक महान साहित्यिक प्रह्लाद चन्द्रशेखर दीवाणजी का एक अभिप्राय अपने अभिमतार्थ प्रस्तुत करना उचित समझते हैं।

"जैन कथाओं के विषय में कुछ विद्वानों ने इस प्रकार की मान्यता प्रचलित की है कि जैन धर्माचार्यों ने हिन्दू इतिहास और पुराण ग्रन्थों से महापुरुषों के नाम और उनके जीवन की प्रमुख घटनाएँ लेकर उन्हें जैन परम्परा के अनुकूल परावर्तित किया है। उनके वैज्ञानिक ग्रन्थ इतिहास की दृष्टि से कुछ भी महत्व नहीं रखते पर उनके ग्रन्थों के अध्ययन से मुझे प्रतीत हुआ है कि यह मान्यता सत्य से परे है। उन ग्रन्थों के रचनाकारों ने अपने प्राचीन ग्रन्थों से उपलब्ध जानकारी को नाम निर्देश के साथ प्रस्तुत किया है।"

दीवानजी महोदय का यह अभिमत हमें जैन साहित्य के प्रति की गई उपेक्षा हटाने में सहायक होगा तथा जैन संस्कृति की प्राचीनता एवं उपादेयता से भारतीय संस्कृति के साथ सम्बद्ध करने में लाभकारी होगा।●

जैन परम्परा और चित्तौड़

रामवल्लभ सोमानी

मेवाड़ का जैनधर्म से सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से था। बड़ली के वीर सं० ८४ के लेख में मध्यमिका नगरी का उल्लेख है।[१] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यहां कई उल्लेखनीय साधु हुए हैं। इनमें सिद्धसेन दिवाकर, और हरिभद्रसूरि बड़े प्रसिद्ध हुए हैं। ९वीं शताब्दी में कृष्णर्षि[२] नामक एक जैन साधु बड़े विख्यात हुए हैं। इन्होंने चित्तौड़ में कई श्रावकों को जैनधर्म में दीक्षित किया इस समय चित्तौड़ में श्वेताम्बरों के साथ-साथ दिगम्बरों का भी प्राबल्य था। महारावल अल्लट के शासनकाल में श्वेताम्बरों को राज्याश्रय मिलना शुरू हुआ था। इस समय कई श्वेताम्बर मन्दिर बने जिनकी प्रतिष्ठा संडेरगच्छ के यशोभद्रसूरि ने की थी।[३] उस समय चैत्यवासियों का बड़ा प्रबल प्रचार था।

खरतरगच्छ के साधुओं का प्रारम्भ में जालोर गुजरात आदि क्षेत्रों में अच्छा प्रचार था। उस समय ये चन्द्रगच्छीय कहलाते थे। मेवाड़ के चित्तौड़ में सबसे अधिक सम्पर्क इस गच्छ के जिनवल्लभसूरि का हुआ। ये प्रारम्भ में चैत्यवासी थे और आसिकादुर्ग के कुर्चपुरीय गच्छ के जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे। ये पाटण में प्रभयदेवसूरि के पास शिक्षार्थ आये थे। इन्होंने चैत्यवासियों की शास्त्र विरोधी प्रक्रियाओं से अप्रसन्न होकर उसे त्यागकर अभयदेवसूरि से फिर से दीक्षा ग्रहण की थी। यह घटना वि० सं० ११३८ के बाद सम्पन्न हुई थी क्योंकि इस सम्वत् में लिखी "विशेषावश्यक टीका" की प्रशस्ति में जिनवल्लभसूरि ने अपने आपको जिनेश्वरसूरि का शिष्य वर्णित किया है।[४] ये घूमते-घूमते चित्तौड़ आये। यहाँ चैत्यवासियों के विरोध के कारण ये चण्डिका के मठ में ठहरे। ये कई शास्त्रों के ज्ञाता थे। अतएव शीघ्र ही इनको बड़ी प्रसिद्धि हो गई। इनके कई उपासक भी हो गये। इनमें श्रेष्ठि बहुदेव साधारण, वीरक, रासल मानदेव आदि थे जो कुछ धर्कट जाति के और कुछ खण्डेलवाल थे। इन्हीं श्रेष्ठियों के सहयोग से जिन

---

१. पूर्णचन्द्र नाहर-जैन लेख संग्रह भाग १ पृ० ९७।

२. अगरचन्द्र नाहटा-शोधपत्रिका वर्ष १ अंक १ में लेख।

३. लेखक द्वारा लिखित 'महाराणा कुम्भा' पृ० १९९।

४. लेखक द्वारा वीरभूमिचित्तौड़ पृ० ११६ (अपभ्रन्शकाव्यत्रयी की भूमिका ४)।

वल्लभसूरि ने चित्तौड़ में विधिचैत्य[१] की स्थापना की। इस समय एक विस्तृत प्रशस्ति भी खुदाई जिसका नाम "सप्तसधिका" रक्खा गया है। इसमें ७७ श्लोक है। इसकी प्रतिलिपि आदरणीय नाहटाजी की कृपा से मुझे प्राप्त हुई है। इस प्रशस्ति में चित्तौड़, नागौर आदि कई स्थानों पर सम्भवतः खुदाया गया था।

खरतरगच्छ परम्परा के अनुसार एक बार नरवर्मा के दरवार में एक समस्या पूर्ति हेतु आई। इसको नरवर्मा के पण्डितगण पूर्ति नहीं कर सके तब चित्तौड़ में इसे जिनवल्लभसूरि के पास भेजी। इन्होंने तत्काल पूर्ति करके भिजवा दी। कालान्तर में जब वे घूमते-घूमते धारानगरी पहुंचे तो नरवर्मा ने इनका बड़ा सम्मान किया और इन्हें काफी दान देने की इच्छा प्रकट की। इन्होंने इसे अस्वीकार करते हुए केवल इतना ही कहा कि वे चित्तौड़ में निर्मित विधिचैत्य की पूजा के निमित्त व पारुत्थ मुद्राओं की व्यवस्था चित्तौड़ की संडपिका से करवा देवें।[२] तदनुसार व्यवस्था कराई गई। इनका देहावसान चित्तौड़ में वि० सं० ११६७ कार्तिक बदि १२ को हुआ था। इसके कुछ समय पूर्व ही इनका पाटोत्सव चित्तौड़ में ही सम्पन्न कराया गया था। इनके द्वारा विरचित्त ग्रन्थों में संघपट्टक, धर्मशिक्षा, पिण्डविशुद्धि, द्वादशकुलक प्रकरण आदि प्रसिद्ध हैं।

जिनदत्तसूरि जिनवल्लभसूरि के बाद आचार्य बने। इनका पाटोत्सव चित्तौड़ में वि० सं० ११६९ बैशाख सुदि ६ को हुआ। इनका प्रारम्भ का नाम सोमचन्द्र था और आचार्य बनने पर इन्हें जिनदत्त नाम दिया गया था। चैत्य-वासियों का बड़ा प्रचार चित्तौड़ में चल रहा था। जब ये चित्तौड़ में प्रवेश कर रहे थे तब एक सांप और एक नकटी औरत को इनके सामने भेजा ताकि अपशकुन हो जाये किन्तु ज्ञानादित्य जिनदत्तसूरि ने कहा कि यह अपशकुन[३] नहीं है। इसका फल वे लोग ही भोगेंगे। इस प्रकार बड़े ही समारोहपूर्वक इन्होंने चित्तौड़ में प्रवेश किया था।

श्रेष्ठि राल्हा का उल्लेख खरतरगच्छ पट्टावली के अनुसार मिलता है। इसने जिनेश्वरसूरि के उपदेश से वि० सं० १२८८ में चित्तौड़ में बड़ा महोत्सव किया। इसमें अजितसेन, गुणसेन, अमृतमूर्ति, धर्ममूर्ति, राजसती, हेमाबली

---

१. लेखक द्वारा चित्रकूट नरवर नागपुर मरुपुरादि सम्बन्धिति सुप्रशस्तिषु लिखित्वा च निर्दर्शितानि···" (अपभ्रंशकाव्यत्रयी में प्रकाशित चर्चरी गाथा १२१)।

२. लेखक द्वारा चित्रकूट मण्डपिकातस्तत् शाश्वतदान भविष्यतीति कृतम्" युग-प्रधान गुर्वावली पृ० १३।

३. शोधपत्रिका वर्ष १ अंक ३ में प्रकाशित श्रीनाहटाजी का लेख। वीरभूमि चित्तौड़ पृ० १५७।

कनकावली, रत्नावली आदि को दीक्षा दी। इसी वर्ष आषाढ़ बदि २ को चित्तौड़ में नेमिनाथ, पार्श्वनाथ ऋषभदेव आदि की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा भी की। इसमें ८००० रु० श्रेष्ठि लक्ष्मीधर ने और शेष राशि श्रेष्ठि राल्हा ने व्यय की। जैसलमेर भण्डार में संगृहीत "कर्मविपाक" नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति से पता चलता है कि राल्हा ने वि० सं० १२८९ में शत्रुंजय आदि तीर्थों की यात्रा उक्त आचार्य के उपदेश से की थी। वि० सं० १२९५ में उक्त ग्रन्थ की प्रतिलिपि करवाई थी।[1] सम्भवत: उस समय जिनेश्वरसूरि धारा में थे और राल्हा उनके दर्शनार्थ वहां गया हुआ था।

मेवाड़ में महारावल जैतसिंह, तेजसिंह और समरसिंहका शासनकाल बड़ा महत्वपूर्ण था। इस काल में जैन धर्म की बड़ी उन्नति हुई। चित्तौड़ से बड़ी संख्या में शिलालेख और ग्रन्थ प्रशस्तियां इस काल की मिली है। खरतरगच्छ परम्परा के अनुसार वि० सं० १३३४ में जिनप्रबोधसूरि यहां आये थे। फाल्गुन सुदि ५ को प्रतिष्ठा मुहूर्त हुआ। इनमें मुनिसुव्रतस्वामी, युगादिदेव, अजितनाथ, वासुपूज्य महावीर स्वामी समवसरणपट्टिका आदि की प्रतिमा शांतिनाथ चैत्यालय में स्थापित की थी। इस उत्सव के समय महारावल समरसिंह, राजकुमार अरिसिंह आदि भी उपस्थित थे। इस समय श्रेष्ठिक आल्हक और धांधल प्रमुख श्रावक थे। श्रेष्ठि-धांधल और उसके पुत्रों का उल्लेख कई ग्रन्थ प्रशस्तियों में भी है। वि० सं० १३४३ की जैसलमेर भण्डार की चन्द्रदूताभिधान की प्रशस्ति में भी इसका उल्लेख है।[2] इस परिवार ने लाखों रुपये सार्वजनिक कार्यों के लिये व्यय किये थे। फाल्गुन सुदि १४ वि० सं० १३३४ में श्रेष्टि आल्हाक ने चित्तौड़ में पार्श्वनाथ चैत्यालय का जीर्णोद्धार कराया था, इस समय चित्तौड़ में खरतरगच्छ के अतिरिक्त चैत्रगच्छ वृहद्‌गच्छ और भर्तृपुरीयगच्छ के साधु भी कार्य कर रहे थे। प्रसिद्ध श्रृंगार चंवरी का निर्माण भी इसी काल में हुआ था।

अल्लाउद्दीनखिलजी के आक्रमण से चित्तौड़ के कई मन्दिर विध्वंश हो गये थे किन्तु महाराणा हमीर के राज्यारोहण के बाद स्थिति में बड़ा परिवर्त्तन हुआ। प्रसिद्ध मन्त्री रामदेव नवलखा खरतरगच्छ का श्रावक था। इसने करेड़ा जैन मन्दिर में बड़ा प्रसिद्ध दीक्षा महोत्सव कराया था। यह वि० सं० १४३१ में सम्पन्न हुआ था। और इसका विज्ञप्ति लेख भी प्रकाशित हो गया है।

१. वरदा वर्ष ९ अंक ३ पृ० ६-७ में प्रकाशित मेरा लेख और उक्त पत्रिका के वर्ष ९ अंक ४ में प्रकाशित डा० दशरथ शर्मा की टिप्पणी। वीरभूमि चित्तौड़ पृ० १५९)।

२. युगप्रधान गुर्वावली पृ० ५६, (वीरभूमि चित्तौड़ पृ० १५९)।

इस परिवार ने कई खरतरगच्छ के आचार्यों की मूर्तियां भी देलवाड़ा (देवकुल पाटक) में बनवाई। इसकी पत्नी महादेवी ने भी कई ग्रन्थ लिखवाये। उस समय देलवाड़ा में इस परिवार ने एक ग्रंथ भण्डार भी स्थापित किया था।[१] रामदेव के २ पुत्र थे (१) सहणा और २ सारंग। सहणा के वि० सं० १४९१ के तीन मूर्ति लेख मिले हैं।[२] जिनमें खरतरगच्छ के जिनचन्द्रसूरि के शिष्य जिनसागरसूरि द्वारा प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा का उल्लेख मिलता है। वि० सं० १४९४ के नागदा के मूर्ति लेख में और वि० सं० १५०५ के शृंगार चंवरी चित्तौड़ के शिलालेख में कवि आचार्यों के नाम हैं।[३] यथा—जिनराजसूरि, जिनवर्धन, जिनचन्द्र, जिनसागर, जिनसुन्दर, जिनहर्ष आदि जिनराज का जन्म वि० सं० १४३३ और मृत्यु वि० सं० १४६१ में हुई। इनकी मूर्ति देलवाड़ा में स्थापित की गई थी। इनके समय की वि० सं० १४५० में लिखी "आचारांग चूर्णि" पुस्तिका मिली है जिसकी प्रतिलिपि ऐरुनन्दन उपाध्याय ने की थी। जिनवर्द्धन के समय की लिखी वि० सं० १४७१ की प्रशस्ति वाली ताऽपर्य परिशुद्धि पुस्तक मिली है। इन्होंने देलवाड़ा में समाचारी मिमामिली है। इस समय खरतरगच्छ के जयसागर नामक एक प्रसिद्ध पण्डित हुए थे इसी प्रकार मेरुसुन्दर नामक एक उपाध्याय का भी उल्लेख मिलता है जिसने कई "बालावबोध" लिखे थे।[४]

महाराणा कुम्भा के शासनकाल में शृंगारचंवरी का वि० सं० १५०५ का भण्डारी बेला का शिलालेख बड़ा प्रसिद्ध है। इसी मन्दिर में वि० सं० १५१२ और १५१३ के ४ शिलालेख और लगे हैं जिनमें जिन सुन्दरसूरि द्वारा प्रतिष्ठा कराने का उल्लेख है। वि० सं० १५३८ का एक और लेख "रामपोल" पर लगा है। इसमें खरतरगच्छ जिनहर्षसूरि का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त जयकीर्ति महोपाध्याय, हर्षकुंजरगणि रत्नशेखरगणि ज्ञानकुंजरगणि आदि का भी उल्लेख है।[५] वि० सं० १५३८ के एक मूर्ति के लेख में भण्डारी भोजा का उल्लेख है। इसकी प्रतिष्ठा विनहर्षगणि ने की थी। खरतरगच्छ का एक वृहद् शिलालेख वि० सं० १५५६ का है। यह वृहद् शिलाओं पर उत्कीर्ण था। इसमें से एक शिला श्लोक सं० ८३ से १२८ का ही अंश वाला मिला है। इसमें

---

१. महाराणा कुम्भा पृ० ३०५ ३३०-३३२

२. उक्त पृ० ३७०-७१

३. उक्त पृ० ३७१-७२

४. उक्त पृ० २१५-१६

५. वीरभूमी चित्तौड़ पृ० २४६

महाराणा रायमल के राज्य का उल्लेख है।[१] इसमें जिन हर्षगणि जयकीर्ति उपाध्याय आदि का उल्लेख है। वि० सं० १५७३ की महाराणा सांगा के समय लिखी "खण्डन विभक्ति" नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति देखने को मिली। इसे खरतर-गच्छ के कमलसंयमोपाध्याय ने लिखा था। यह ग्रन्थ अब पाटण भण्डार में है।[२]

महाराणा बणवीर के सयय श्रेष्ठि सूरा का उल्लेख मिलता है। उस समय विभिन्न चैत्य-परिपाटियों में खरतरगच्छ के शांतिनाथ के मन्दिर का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार दीर्घ काल तक चित्तौड़ खरतरगच्छ का केन्द्र रहा है। ●

---

१. उक्त पृ० २४६-४७
२. उक्त पृ० २५७

सौजन्य से :—

ARBEITS INDIA

Export House recognised by Govt. of India

Proprietor : **SANJIB BOTHRA**

8/1, MIDDLETON ROW,
5th Floor, Room No. 4
CALCUTTA-700 001

Phone : 201929/8730/6256
Telex : 0212333 ARBI IN
Fax No. : 0091-33290174

खजुराहो का पार्श्वनाथ मन्दिर

नीरज जैन

अड़सठ फुट लम्बा तथा पैंतीस फुट चौड़ा यह पार्श्वनाथ मन्दिर, खजुराहो के अन्य मन्दिरों की ही तरह एक विशाल और ऊँची जगती (चबूतरे) पर स्थित नागर शैली का पंचायन मन्दिर है। मन्दिरों के विश्लेषण में पंचायतन प्रकार का वर्णन दो अर्थों में किया जाता है। एक धारणा के अनुसार एक ही चबूतरे पर मुख्य मन्दिर के चारों कोनों पर चार छोटे मन्दिर स्थापित करके उन पांच मन्दिरों के समूह को पंचायतन शैली नाम दिया जाता है, जबकि दूसरी धारणा—मन्दिर के पाँच आवश्यक अंगों—(जगमोहन, महामण्डप, अन्तराल, प्रदक्षिणा और गर्भगृह) से सज्जित मन्दिर को पंचायतन शैली का मन्दिर मानने के पक्ष में है। यह पार्श्वनाथ मन्दिर उपरोक्त पांच अंगों से सम्पन्न पंचायतन मन्दिर है।

इसकी एक और विशेषता यह है कि यद्यपि यह मन्दिर पूर्वाभिमुख है तथापि इस में पीछे पश्चिम की ओर भी एक गर्भगृह का निर्माण करके पश्चिम-मुख वेदिका तथा जिनबिम्ब की स्थापना की गई है। इस पश्चिमी गर्भ-गृह का द्वार भी मन्दिर के प्रमुख द्वार की तरह साज-सज्जा एवं प्रतीकात्मक अंकनों से भरपूर है, तथा उसका निर्माण भी स्पष्ट ही समकालीन प्रतीत होता है। मंदिर तो प्राय: उतर या पूर्व मुख ही बनाये जाते थे, परन्तु मध्यकाल में विशेष अनुष्ठानों के लिये पश्चिम मुख मन्दिर या वेदिकाएँ बनाने के भी प्रमाण मिलते हैं। कलचुरी राजाओं के समय में महसांव तथा चन्द्रेह के शिव मन्दिर पश्चिम मुख ही बनाये गए थे। ऐसा लगता है कि नवगृह शांति के लिए अथवा अन्य किसी अनुष्ठान के लिये ही पार्श्वनाथ मन्दिर में इस पश्चिम मुख वेदिका की स्थापना की गई होगी। इस वेदिका के प्रवेश द्वार पर नवगृह की प्रतिमाएँ भी बनी हुई हैं।

दूर से देखने पर ही चित्त हरण कर लेने वाले इस मन्दिर के अनन्त सौंदर्य का रहस्य इसके उत्तुंग शिखर की छवि में निहित है और अनगिनते उरुश्रृंगों तथा कर्ण-श्रृंगों ने इसकी भव्यता में चार चाँद लगा दिये हैं। छोटे बड़े शताधिक शिखर इसकी संयोजना में दिखाई देते हैं।

मेरु के आधार पर कल्पित इस शिखर का प्रारम्भ छत के ऊपर से होता है और ज्यों-ज्यों वह ऊपर बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी परिधि में संकोच

होता जाता है, जो अन्त में चक्र का आधार मात्र रह जाता है। सुन्दर आरों वाले इस चक्र पर आमलक और पत्र-कलश हैं तथा यही मन्दिर का सर्वोच्च अंग है। हिन्दू मन्दिरों के विशेषज्ञ श्री कृष्णदेव ने इस मन्दिर का निर्माणकाल ईस्वी सन् ९५० और ९७० के बीच माना है।

बाह्य भित्ति

इस मन्दिर की बाह्य भित्ति पर सब ओर एक के ऊपर एक ऐसे तीन पट्टों में विभिन्न प्रतिमाओं का अंकन है। प्रथम पट्ट की प्रतिमाओं की ऊँचाई लगभग डेढ़ फुट है, जो बीच के पट्ट में एक फुट तथा सबसे ऊपर तीसरे पट्ट में लगभग पौन फुट रह जाती है।

प्रथम पंक्ति में तीर्थंकर प्रतिमाओं को केन्द्र बनाकर कुबेर युगल, द्वारपाल दिक्पाल, तथा गजारूढ़ अश्वारूढ़ जैन शासन देवताओं का अंकन है। इसी पट्ट में प्रियतम का पत्र पढ़ने में तल्लीन प्रोषित-पतिका पग-तल में आलता विनन्दन करती हुई कामिनी, नेत्र को अंजन-शलाका का स्पर्श देती हुई सुलोचना बालक को स्तन्यपान कराती हुई स्नेह वत्सला जननी तथा पैर से कंटकमोचन करती हुई विपथगा की विख्यात छवियाँ अंकित हैं। अपने सधे हुए शरीर-सौष्ठव तथा विशिष्ठ सौन्दर्य और सजीवता के लिए अद्वितीय कही जाने वाली—नूपुर बाँधती हुई— नृत्योद्यता किन्नर बाला भी इसी पट्ट में स्थित है, जिसे देखकर लगता है कि क्षणेक में उसका नृत्य प्रारम्भ होने ही वाला है।

इन पट्टों में स्थान-स्थान पर अनेक भुजाओं के धारक तथा नाना आयुधों से सज्जित और विभिन्न वाहनों पर आरूढ़ अनेक देवी देवताओं की प्रतिमाएं भी अंकित हैं जिन्हें पुरातत्वज्ञों द्वारा वायु, अग्नि, भैरव, शिव, हरि, हर, ब्रह्मा, विष्णु, बलराम-रेवती आदि कहा जाता है। इनमें से अधिकांश प्रतिमाएं जैन शासन देव-देवियों की हैं। इनमें चक्रेशी, गोमुख, धरणेन्द्र पद्मावती, अम्बिका आदि अनेक तो स्पष्ट ही देखे पहिचाने जा सकते हैं। यतिवृषभ आचार्य की तिलोयपण्णत्ती और पण्डित प्रवर आशाधरजी के प्रतिष्ठा सारोद्धार आदि ग्रन्थों में वर्णित लक्षणों से उनका मिलान भी हो जाता है। इसी प्रकार हरिवंशपुराण पद्मपुराण आदि जैन कथा ग्रन्थों के विभिन्न कथानकों का चित्रण भी इस मन्दिर की भित्तियों पर उपलब्ध है। जैन आख्यानों का ज्ञान न होने के कारण इन चित्रणों की प्रायः अशुद्ध व्याख्या कर दी जाती है।

पद्म पुराण के आख्यान के अनुसार राम और सीता का अंकन इस मन्दिर की अपनी विशेषता है। यह बात स्मरणीय है कि समूचे खजुराहो में अन्यत्र कहीं भी राम का अंकन नहीं पाया जाता।

पार्श्वनाथ मन्दिर की बाह्य भित्ति पर उत्तर की ओर राम और सीता की एक युगल प्रतिमा अंकित है जिसमें उन्हें त्रिभंग मुद्रा में खड़े हुए दिखाया गया है। राम के हाथ में वाण है, कांधे पर तूणीर लटक रहा है तथा उनके पार्श्व में हनुमान को खड़ा बताया गया है। इसी परिक्रमा की दक्षिणी ओर शिखर के पास थोड़ी ऊँचाई पर राम कथा का एक अन्य फलक लगा हुआ है, जिसमें दुराचारी रावण द्वारा अपहृता राम वल्लभा जनकनन्दिनी को लंका की अशोक वाटिका में एक वृक्ष के नीचे बैठा चित्रित किया गया है। सामने बैठे हनुमान सीता से राम का संवाद निवेदन कर रहे हैं और पीछे खड्ग लिए पहरेदार राक्षस और राक्षसियों को अंकित किया गया है।

परिक्रमा की भित्ति का दूसरा पट्ट भी इसी प्रकार के चित्रण से सज्जित है, तथा ऊपर के पट्ट में हाथों में सुरभित पुष्पमाल लिए हुए विद्याधर-युगल और नाना वादित्र बजाते हुए गन्धर्व, किन्नर तथा किन्नरियों का ही अंकन अधिक है। इस तीसरे पट्ट के अतिरिक्त भी ऊपर उरुशृंगों की जंघा में दिक्पाल, धनुर्धर एवं चतुर्भुज देवों–देवियों का मनोहर अंकन है।

बाह्य भित्ति के इन्हीं प्रतिमा-पट्टों के बीच-बीच में सुन्दर जाली के छोटे-छोटे झरोखे छोड़े गये हैं, जो भीतर प्रदक्षिणापथ में हवा तथा क्वचित् प्रकाश देकर एक अनोखे रहस्यमय वातावरण की सृष्टि करते हैं। मन्दिर में हवा और प्रकाश की यह योजना कुछ समय बाद में की गई मालूम होती है। बाह्य-भित्ति तथा प्रदक्षिणा-पथ के इन प्रतिमापट्टों पर अंकित मूर्तियों के निर्माण में खजुराहों के कलाकार की निर्माण-क्षमता और उसकी छेनी का संयम तथा सूक्ष्मता इतने जोरों से उजागर हो उठी है कि कलाकार की साधना ही जैसे मूर्तिमयी होकर प्रतिष्ठित हो गई है। कामिनी की कमनीय देह वल्लरी की हर सम्भव लोच और लचक को साकार प्रस्तुत कर सकने में यहाँ के कलाकार को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है।

उन सुर बालाओं के चरणों में नूपुर, पायल, पैंजनी तथा तोड़ल, मध्य भाग में कटिबन्ध, मणि झालर, तथा किंकणी, वक्ष भाग पर दोलड़ी ले लेकर सात लड़ी तक मणिमाला, वैजन्ती माल, मोहनमाला, हार, तिदानी उपग्रीव और बीज पूरक आदि तथा हाथों में स्वर्ण वलय, मणि कंगन, भुजबन्ध, गजरा, बघमुहा चूरा बँगरी तथा बबूल फली, बोंहटा, बखौरा आदि आभरणों का यथास्थान चित्रण है। इसी प्रकार माथे पर बिंदिया, दामिनी, शीषफूल और सिर पर पुष्पमाल, पुष्प मुकुट, जटा मुकुट, मुक्तादाम तथा स्वर्ण शृंखलाओं का बहुलता से अंकन किया गया है। देवता मूर्तियों पर भी कतिपय आभूषणों तथा उनके विभिन्न आयुध आदि परिकर का सुन्दरतम अंकन करने में यहाँ का कलाकार पीछे नहीं रहा।

आभरण, अलंकार, आयुध और परिकर के अतिरिक्त खजुराहों की विशेषता तो इन प्रतिमाओं के आनन पर विभिन्न मनोभावों का वह सजीव चित्रण है, जिसके बल पर यह कहने का मन होता है कि यहां के कलाकार ने स्थूल शरीर का ही निर्माण करके विराम नहीं लिया, वरन् उनमें प्राण-संचार का भी उद्योग किया है। लोक जीवन की समस्त विधाओं का परिचय इन चित्रणों में प्राप्य है। जन्म-मरण, क्षुधा तृप्ति, साता-असाता, युद्ध और नृत्य, आखेट और आनन्द, सृजन-संरक्षण और संहार तथा राग और विराग का ऐसा अनन्य चित्रण इस एक ही मन्दिर में देखने को मिल जाता है कि लगता है समय की गति अवरुद्ध हो जाय और हम चिरकाल तक उसका रस लेते रहें।

अपनी इन विशेषताओं के कारण ही इस मन्दिर को, पुरातत्व वेत्ताओं द्वारा यहां के समस्त जैन-जैनेतर मन्दिरों के समूह में सुन्दरतम तथा अद्वितीय माना गया है। इस विषय के प्रसिद्ध शोधक और प्रकाण्ड विद्वान फर्ग्युसन महोदय ने इस मन्दिर को देखकर लिखा है। "In fact, the entire temple is so exquisitely wrought that, there is nothing probably in Hindu architecture that surpasses the richness on its three-storeyed base combind with the cxtreme elegance out line and delicate datail of the upper part. (1).

"वास्तव में समूचे मन्दिर का निर्माण इस दक्षता के साथ हुआ है कि संभवतः हिन्दू स्थापत्य में इसके जोड़ की कोई रचना नहीं है जो इस मन्दिर की कलागत समृद्धि, तीन पंक्तियों की अद्भुत मूर्ति रचना और शिखर संयोजना की बराबरी कर सके।"

इसी प्रकार इन्हीं मूर्ति पट्टों में अंकित एक अति सुन्दर अप्सरा प्रतिमा के अलौकिक सौंदर्य की अनुभूति, भारतीय पुरातत्व की विशिष्ट ज्ञाता और विदुषी कुमारी स्टैला क्रेमरिश (Stella Kamrisch) ने इन शब्दों में व्यक्त की है— "No greater fltness of sculpture, wall and space can be found in Khajuraho Mediaeval power of movement and ancient Indian naturalism are amalgmated in the perfection of the sculpture. 2.

---

1. (Quotation from Fergusson in the KHAJURAHO by Kanwar lal pp. 66.)
2. (ibid pp. 66)

"पुरातन भारतीय प्रकृति सौम्य और मध्ययुगीन गतिशीलता एक साथ इसकी पूर्णता में साकार हो उठे हैं और खजुराहों भर में इस काल का इससे अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करने वाली दूसरी प्रतिमा नहीं है।"

खुजराहों के विशालतम शिवालय "कन्धरिया महादेव मंदिर" की अपेक्षा भी पार्श्वनाथ मन्दिर की कला का लालित्य श्रेष्ठ मानते हुए फर्ग्युसन महोदय ने लिखा है—

"If we compare the parshwanath with Kandariya Mahadeo we can not but admit that the former is by for the most elegant" (3).

"यदि हम पार्श्वनाथ मन्दिर की तुलना कंधरिया महादेव मन्दिर से करें तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि इनमें प्रथम (पार्श्वनाथ मन्दिर) कहीं अधिक भव्य और श्रेष्ठ है।

मण्डप

एक विशाल चबूतरे पर निर्मित इस मन्दिर में सामने की ओर से पांच सीढ़ियों द्वारा हम सर्व प्रथम मण्डप में पहुँचते हैं। चार स्तम्भों पर आधारित इस मण्डप की छत उल्टे कमल पुष्प की तरह सुन्दरता से सजाई गई है। इस छत के बीच में पाषाण का एक फुंदना झूलने की तरह झूल रहा है जिस पर दो विद्याधर लटकते दिखाए गए हैं।

मण्डप के ऊपर, बाहरी ओर देव-देवियों तथा अप्सरा प्रतिमाओं की पंक्ति तीनों तरफ बनी हुई है, जिसमें सद्यस्नाता सुर-बाला की केशराशि से टपकते जल बिन्दु को मुक्ता कण समझकर उस पर झपटते हुए हंस का चित्रण मनोहर है।

क्रमश:

---

3. (ibid pp. 67)

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

लेखक—**हेमचन्द्राचार्य**

अनुवाद—**राजकुमारी बेगानी**

(पूर्वानुवृत्ति)

विद्युतदृष्ट के वंश में केतुमती नामक कन्या उत्पन्न हुई जो विद्या अधिगत करने के लिए यहाँ आयी और प्रयास किया किन्तु उसका विवाह पुण्डरीक वसुदेव के साथ हो गया। मैं उन्हीं के वंश की हूँ मेरा नाम बालचन्द्रा है। आपके प्रभाव से मैंने विद्या अधिकृत कर ली है। मैं आपकी दासी हूँ। आप मुझ से विवाह करें इसके अतिरिक्त आपके प्रभाव से विद्यासिद्ध होने के लिए आप मुझसे जो कुछ चाहेंगे मैं आपको दूँगी। वसुदेव बोले—'क्या तुम वेगवती को एक विद्या दे सकती हो? तब बालचन्द्रा वेगवती को लेकर गगनबल्लभ नगर में चली गयी। और वसुदेव उसी आश्रम पद में लौट गये।

वसुदेव ने वहाँ दो नवागत राजाओं को देखा जो कि तापस दीक्षा ग्रहण कर वहाँ आये थे। वे अपने पौरुष की निन्दा कर रहे थे। वसुदेव ने जब इसका कारण पूछा तो वे बोले 'श्रावस्ती में एणीपुत्र नामका एक दीर्घवाहु राजा है। उनका चारित्र निर्मल और वे पवित्र आत्मा है। उन्होंने अपनी कन्या प्रियंगुसुन्दरी के स्वयंवर के लिये आमन्त्रित किया किन्तु प्रियंगुसुन्दरी ने किसी भी राजा को पसन्द नहीं किया तब सभी राजाओं ने कुपित होकर एणीपुत्र के राज्य पर आक्रमण किया। किन्तु एणीपुत्र ने अकेले ही सभी राजाओं को विताड़ित कर दिया। पराजित होने पर वे सभी लज्जावश कोई पर्वत में छिप गया, कोई जल में, कुछ तापस हो गए। हमलोगों की इस नपुंसकता को धिक्कार है।

यह सुनकर यदुपुंगव वसुदेव ने उन्हें सांत्वना दी और जैन धर्म में सुस्थित किया। तब उन्होंने मुनि दीक्षा ग्रहण की। वसुदेव वहाँ से श्रावस्ती गए जहाँ एक उद्यान में उन्होंने एक मन्दिर देखा जिसके तीन दरवाजे थे। मुख्य दरवाजे पर बत्तीस ताले लगे थे। अतः उन्होंने बगल के दरवाजे से भीतर प्रवेश किया वहाँ उन्होंने तीन प्रतिमाएँ देखी जिनमें एक ऋषि की, एक गृहस्थ की और एक तीन पैर के भैंसे की। यह देखकर उन्होंने एक ब्राह्मण से इसका कारण पूछा जिसके प्रत्युत्तर में उसने कहा—

यहाँ जितशत्रु नामक राजा राज्य करते थे। उनके पुत्र का नाम था मृगध्वज। उस समय वहाँ कामदेव नामक एक श्रेष्ठी रहते थे। वे एक दिन गोशाला गए। वहाँ का रक्षक दण्डक उनसे बोला — आज तक मैंने इस महिष के पाँच बच्चों की हत्या की है यह छठा बच्चा है, देखने में खूब सुन्दर है जन्मते ही यह भय से काँपते हुए दीनतापूर्वक मुझे देखता हुआ मेरे पैरों के पास आ गिरा। दयावश मैंने उसे जीवित छोड़ दिया है अतः आप भी उसे अभय दें। मुझे लगता है कि यह कोई जाति स्मरण ज्ञान युक्त जीव है।

यह सुन दयावश श्रेष्ठी उसे श्रावस्ती ले गए। वहाँ श्रेष्ठी के कहने पर राजा ने भी उसे अभय दिया। श्रावस्ती में वह हर जगह निर्भयता पूर्वक विचरता था। एक दिन राजपुत्र मृगध्वज ने उसका एक पैर काट डाला। अतः राजा ने उसको दण्डस्वरूप राज्य से निष्कासित कर दिया। निर्वासित होने पर मृगध्वज ने मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। इस घटना के अठारह दिनों के पश्चात् उस महिष की मृत्यु हो गयी और बीसवें दिन मृगध्वज को केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। देव, असुर तथा राजागण उनके समवसरण में आये। देशना शेष होने पर राजा जितशत्रु ने उनसे पूछा—इस महिष के साथ आपका क्या वैर था कि आपने उसका एक पैर काट डाला। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा—

एक समय इसी देश में अश्वग्रीव नामक एक अर्द्धचक्री राजा थे। उनके मन्त्री का नाम हरिश्मश्रु था। वह कौल था और धर्म की निन्दा करता था। लेकिन राजा धर्मपरायण और श्रद्धावान् था। इस प्रकार दोनों में उत्तरोत्तर विरोध बढ़ने लगा। वे दोनों त्रिपृष्ट वासुदेव व बलराम अचल द्वारा मारे जाकर सप्तम नरक में उत्पन्न हुए। वहाँ से निर्गत होकर अनेक योनियों में होकर वही अश्वग्रीव मैं आपका पुत्र हूं और हरिश्मश्रु वही महिष। पूर्व जन्म के वैर के कारण मैंने उसका पैर काट डाला। वह महिष अब लोहिताक्ष नामक असुरेन्द्र होकर उत्पन्न हुआ है और वह मुझे वन्दना करने यहाँ आया है। जीवन का रहस्य ऐसा ही है।

लोहिताक्ष ने तब मुनि को वन्दना कर मृगध्वज ऋषि, कामदेव श्रेष्ठी और तीन पैरों वाले महिष की रत्नमय मूर्तियाँ बनाकर इस मन्दिर में स्थापित कर दीं।

कामदेव के वंश में इस समय कामदत्त नामक श्रेष्ठी उत्पन्न हुए हैं उनके बन्धुमती नामक कन्या है। श्रेष्ठी द्वारा पूछने पर किसी नैमित्तिक ने उन्हे बताया था कि जो इस मुख्य द्वार को खोलेगा वही बन्धुमति का पति होगा। यह सुनकर श्रेष्ठी वहाँ आये और बन्धुमति के साथ उनका विवाह कर दिया।

प्रियंगुसुन्दरी पिता के साथ कौतुहलवश विवाह के समय वसुदेव को देखने आयी और देखने मात्र से उनपर मुग्ध हो गयी। उसने गुप्त रूप से अपने द्वारपाल

को वसुदेव के निकट भेजा। उसने आकर प्रियंगुसुन्दरी और राजा ऐणी पुत्र की कथा उन्हें विनयपूर्वक सुनायी और रात्रि के समय उन्हें प्रियंगुसुन्दरी के प्रासाद में जाने को कहा। शायद वसुदेव उनके कहे अनुसार वहाँ जाते किन्तु उस समय वे एक नाटक देख रहे थे। उस नाटक में दिखाया जा रहा था कि नमिपुत्र वासव (इन्द्र) विद्याधर थे। उनके वंश में अनेक वासव हुए जिनमें एक का नाम था पुरुहुत एक दिन वे हाथी पर चढ़कर घूमते हुए गौतम ऋषि के आश्रम में पहुँचे। वहाँ उनकी पत्नी अहिल्या को देखकर कामान्ध हो गए और उसके साथ सम्भोग किया इससे उनकी विद्या नष्ट हो गयी। क्रुद्ध गौतम ऋषि ने भी उसे नपुंसक बना दिया उस नाटक को देखकर भयभीत बने वसुदेव ने प्रियंगुसुन्दरी के प्रासाद में जाने का विचार छोड़ दिया।

वसुदेव जब रात्रि के समय बन्धुमति के साथ सोए हुए थे तभी सहसा उनकी नींद खुल गयी। उन्होंने देखा कि उनके सम्मुख एक देवी खड़ी हुई है। मन ही मन वसुदेव सोचने लगे यह कौन है? तभी वह देवी बोल उठी वत्स क्या सोच रहे हो? यह कहकर उनका हाथ पकड़ा और उन्हें अशोक बाटिका में ले गयी। वहाँ उनसे बोली—इस भरत क्षेत्र में चन्दनपुर नामक नगर में अमोघरेतस नामक एक राजा राज्य करता था उसकी पत्नी का नाम था चारूमती और पुत्र का नाम था चारुचन्द्र।

उसी समय अनंगसेना नामक एक गणिका भी उसी राज्य में रहती थी। अनंगसेना के एक कन्या थी जिसका नाम था कामपताका। एक बार राजा ने वहाँ एक यज्ञ का आयोजन किया। उस यज्ञ में बहुत से तापसों सहित कौशिक और तृण बिन्दु नामक दो उपाध्याय आए उन दोनों उपाध्यायों ने राजा को कुछ फल दिए। उन सुन्दर फलों को देखकर राजा ने उनसे पूछा ये फल कहाँ निकलते हैं। प्रत्युत्तर में उन्होंने हरिवंश के उद्भव से लेकर कल्पवृक्ष लाने तक की सारी कथा सुना दी।

उसी समय छुरी पर नृत्य करती कामपताका ने चारुचन्द्र और उपाध्याय कौशिक का मन हरण कर लिया। यज्ञ की समाप्ति पर कुमार चारुचन्द्र ने कामपताका को अपने अधिकार में ले लिया। उधर कौशिक ने राजा से कामपताका के साथ पाणिग्रहण की याचना की। राजा ने कहा कि उसका विवाह तो कुमार चारुचन्द्र के साथ हो गया। इसके सिवाय वह श्राविका है अतः एक पति को छोड़कर दूसरे को ग्रहण नहीं करेगी। राजा द्वारा निवारित होने पर वह क्रुद्ध हो गया और राजा को शाप दिया कि यदि स्त्री सम्भोग करेंगे तो मृत्यु को प्राप्त होंगे। तब महामना राजा स्वराज्य चारुचन्द्र को देकर अरण्य में चले गए और एक तापस की भाँति रहने लगे।

जब राजा बन में गए रानी उस समय गर्भवती थी किन्तु राजा को यह ज्ञात नहीं था अतः उन्होंने अपने गर्भ की बात राजा को बतायी और उन्हीं के साथ वन में चली गयी जिससे सन्देह न हो। वन में उन्होंने एक कन्या को जन्म दिया जिसका नाम रखा ऋषिदत्ता। तदुपरान्त रानी ने चारण मुनि से श्राविका धर्म ग्रहण कर लिया। क्रमशः ऋषिदत्ता बड़ी हुई। उधर उसकी मां और धायी दोनों मृत्यु को प्राप्त हो गयी।

एक दिन राजा शिलायुध उस वन में शिकार करने आये। ऋषिदत्ता का रूप देखकर वे उस पर आसक्त हो गए। ऋषिदत्ता ने अतिथि भाव से उनका सत्कार किया। राजा उसे एकान्त स्थान में ले गये और उससे सम्भोग किया। सम्भोग के बाद ऋषिदत्ता राजा से बोली—"मैं ऋतुस्नाता हूं अतः यदि मेरे गर्भ रह जाए तो मैं क्या करूँ। कारण मैं उच्चकुल जात और अविवाहित हूं। राजा ने कहा – "मैं इक्ष्वाकु वंशीय राजा हूँ। मेरा नाम है शिलायुध। यदि तुम्हारे गर्भ रह जाए और पुत्र हो तो तुम उसे श्रावस्ती ले आना तब मेरे राज्य का अधिकारी वही होगा। दूसरा कोई नहीं होगा। इसी बीच शिलायुध के अनुचर आ पहुंचे। राजा भी उससे विदा लेकर अनुचरों के साथ चले गये। ऋषिदत्ता ने तब सारी बातें अपने पिता को बता दी। तदुपरान्त यथा समय उसके पुत्र हुआ। प्रसूति रोग के कारण पुत्र जन्म के पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी और मृत्यु के पश्चात वो ज्वलनप्रभ की मुख्य रानी के रूप में उत्पन्न हुई। उस बालक को गोद में लेकर ऋषिदत्ता के पिता अमोघरेतस तापस होने पर भी साधारण मनुष्यों की तरह रोने लगे। वत्स मैं ही ज्वलनप्रभ की रानी हूँ। अवधि ज्ञान से सब कुछ जानकर मैं हिरणी का रूप धारण कर उसके पास जाती और अपने स्तनों के दूध से उसे बड़ा कर दिया। इसीलिए उस बालक का नाम एणीपुत्र पड़ा।

उधर कौशिक ने मृत्यु के पश्चात् दृष्टि विषधर सर्प होकर पिताजी के आश्रम पद में जन्मग्रहण किया। उस दुष्ट ने पिताजी को डस लिया। किन्तु मैंने उस विष को हरण कर उनके प्राणों की रक्षा की। तदुपरांत उस सर्प को प्रतिबोध मिला और मृत्यु के पश्चात् बल नामक देव रूप में उत्पन्न हुआ।

बालक के बड़े होने पर मैं ऋषिदत्ता का रूप धारण कर उसको साथ लेकर श्रावस्ती गयी। वहाँ राजा के सम्मुख उपस्थित हुयी। किन्तु वे कुछ भी स्मरण नहीं कर सके। तब मैं बालक को उनके सम्मुख रखकर आकाश में स्थित होकर बोली—"मैं ही ऋषिदत्ता हूं जिसके साथ आपने वन में संभोग किया था। और यह आपका पुत्र है। इसे जन्म देते समय मेरी मृत्यु हो गयी मैं देवी रूप में उत्पन्न हुई। किन्तु स्नेहवश हरिणी बनकर मैंने इसका लालन-पालन किया।

यह एणीपुत्र नामक आपका पुत्र है। यह सुनकर शिलायुध एणीपुत्र को सिंहासन देकर मुनि बन गए और मृत्यु के बाद स्वर्ग गए।

सन्तान कामना से एणीपुत्र ने मेरी आराधना की तब मैंने उसे एक कन्या सन्तान दी है वही कन्या प्रियंगुसुन्दरी है। राजा ने प्रियंगुसुन्दरी के स्वयम्बर के लिये राजाओं को एकत्रित किया है। किन्तु उसने किसी को भी वरण नहीं किया तब एकत्रित राजागण युद्ध करने लगे। मेरी उपस्थिति के कारण एणीपुत्र ने उन सब को पराजित कर दिया। आपको देखने के बाद प्रियंगुसुन्दरी आपकी ही कामना कर रही है। आपके लिये उसने निष्कलंक अष्टमतप कर मेरी आराधना की और मेरे ही आदेश से द्वारपाल गन्धरक्षित आपके पास गया था। परन्तु अज्ञानता के कारण तुमने उसकी अवहेलना करी पर अब जब वह आकर तुम्हें पुकारे तुम जाकर प्रियंगुसुन्दरी से विवाह कर लो। तुम मुझसे कोई वर मांगो। वसुदेव बोले "मैं जब आपका आह्वान करूँ तब आप उपस्थित हो जाएँ यही वर मैं आपसे मांगता हूं।" देवी बोली—'ऐसा ही होगा।'

ऐसा कह कर वसुदेव को वहीं छोड़कर देवी चली गयी। दूसरे दिन सुबह द्वारपाल आने पर वसुदेव उसके साथ एक मन्दिर में गये। प्रियंगुसुन्दरी वहाँ पहले से ही प्रतीक्षा कर रही थी। वहाँ उन्होंने गान्धर्व विवाह किया। अठ्ठारहवें दिन द्वारपाल ने राजा से जाकर कहा कि देवी ने वसुदेव को प्रियंगुसुन्दरी का पति मनोनीत किया है। तब राजा उन्हें अपने प्रासाद में ले गये।

वैताढ्य पर्वत पर गन्ध समृद्धि नामक एक नगर था। वहाँ गान्धार पिंगल नामक एक राजा राज्य करते थे। उनके प्रभावती नामक एक कन्या थी वह घूमते हुए सुवर्णाभ नगरी में गयी। वहाँ वह सोमश्री से मिली। प्रथम मिलन में ही वह उसकी सहेली बन गयी। सोमश्री पति वियोग में रह रही है जानकर प्रभावती ने उससे कहा "बहन दुख मत करो—"मैं तुम्हारे पति को यहाँ ले आऊँगी।" सोमश्री दीर्घ निश्वास छोड़ती हुई बोली 'कामदेव के समान मेरे पति को तुम वेगवती की तरह ही ले आना।' प्रभावती बोली 'मैं वेगवती नहीं हूँ' ऐसा कहकर वह श्रावस्ती गयी और वसुदेव को उठाकर वहाँ ले आयी।

वसुदेव वहाँ अन्य रूप धारण कर सोमश्री के साथ रहने लगे। एक दिन यह बात मानसवेग को ज्ञात हो गयी तो वह उन्हें पकड़ कर ले गया। इससे नगर में कोलाहल मच गया एवं वयोवृद्ध खेचरगण वसुदेव को मुक्त कर लें आए। किन्तु उनमें विवाद चलता ही रहा। तब उन्होंने वैजयन्ती नगर के राजा बलिसिंह के सम्मुख अपना विवाद रखा। सूर्पक आदि भी वहाँ उपस्थित हो गये। मानसवेग बोला—'पहले सोमश्री का विवाह मेरे साथ करने की बात थी। किन्तु वसुदेव ने मेरी अनुमति के बिना छल से उसके साथ विवाह कर लिया।' वसुदेव बोले मैंने

सोमश्री के पिता की अनुमति से ही उसके साथ विवाह किया था छल से नहीं किया था बल्कि मानसवेग ने ही उसका अपहरण किया था। वेगवती आदि सभी यह बात जानते हैं।"

इस प्रकार अपनी बात असत्य प्रमाणित होने पर मानसवेग नीलकण्ठ, अंगारक, सूर्पक एवं अन्य विद्याधरों के साथ वसुदेव से युद्ध करने को प्रस्तुत हुआ। तब वेगवती की माता अंगारवती ने वसुदेव को एक दिव्य धनुष और बाण दिया और प्रभावती ने उन्हें प्रज्ञप्ति विद्या दी। इस प्रकार दिव्य धनुष और विद्या प्राप्त हो जाने से वसुदेव ने उन्हें अकेले ही पराजित कर दिया और मानसवेग को बाँध कर सोमश्री के सम्मुख ला पटका। किन्तु उसकी माँ के अनुरोध पर उसे मुक्त कर दिया। तदुपरांत मानसवेग आदि विद्याधर जो कि अब मृत हो गए थे। उन्हें लेकर सोमश्री के साथ विमान में बैठकर महापुर आये वहाँ वे सोमश्री के साथ आनन्दपूर्वक दिन व्यतीत करने लगे।

अश्व का रूप धारण कर मायावी सूर्पक एक दिन उन्हें ले जाने लगा। यह बात जब वसुदेव को ज्ञात हुई तो उन्होंने उसके मस्तिष्क पर ऐसा घूंसा मारा कि उसने उन्हें छोड़ दिया। वे आकाश से जाह्नवी के जल में आ गिरे। वे वहाँ से तैर कर किनारे आए और एक तपस्वी के आश्रम में गए। वहाँ उन्होंने एक कन्या को देखा जो हड्डियों की माला गले में पहने खड़ी थी। वसुदेव के कारण पूछने पर तपस्वी ने कहा—'यह लड़की राजा जितशत्रु की पत्नी और जरासंध की कन्या है। इसका नाम नन्दीसेना है। एक परिव्राजक ने इस पर वशीकरण मन्त्र कर दिया। इससे जितशत्रु ने उसकी हत्या कर दी। उसी वशीकरण का प्रभाव अभी भी इसके ऊपर है इसीलिये इसने उसकी हड्डियों की माला धारण कर रखी है। वसुदेव ने मन्त्रबल से उसे वशीकरण से मुक्त कर दिया इससे प्रसन्न होकर राजा जितशत्रु ने अपनी कन्या केतुमती का विवाह वसुदेव के साथ कर दिया।

जरासंध का द्वारपाल डिम्भ जितशत्रु के पास जाकर बोला—'नन्दीसेना का जीवन जिसने बचाया है महाराज ने उसे बुलाया है। ठीक है कहकर जितशत्रु ने अपनी सम्मति दे दी। तब डिम्भ वसुदेव को बैठाकर राजगृही ले गया। वहाँ सैनिकों ने उसे बन्दी बना लिया। उन्हें बन्दी क्यों बनाया गया पूछने पर सैनिकों ने बताया "एक नैमित्तिक ने राजा से कहा है कि जो आपकी कन्या नन्दीसेना को स्वस्थ कर देगा उसी का पुत्र आपकी हत्या करेगा इसीलिए तुम्हारी हत्या की जाएगी।'

ऐसा कहकर वे वसुदेव को पशु की भाँति वध भूमि पर ले गये। वहाँ वधिक पहले से ही उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उसी समय गन्ध समृद्धपुर के राजा गन्धारपिंगल ने एक विद्या से पूछा—'मेरी कन्या प्रभावती का पति कौन होगा?

तब विद्या ने बताया कि—'वसुदेव'। अतः वसुदेव को लाने के लिये उसने उसकी धाय भागीरथी को भेजा। वधिक जब वसुदेव की हत्या करने जा रहे थे ठीक उसी समय वह आयी और उन्हें वधिक के हाथों से छीनकर गन्धसमृद्धपुर ले गयी। तब गन्धपिंगल ने उनके साथ प्रभावती का विवाह कर दिया। अब वसुदेव प्रभावती के साथ सुखपूर्वक रहने लगे।

वहाँ से अन्यत्र जाकर वसुदेव ने सुकौशला आदि अनेक विद्याधर कन्याओं के साथ विवाह किया। अन्ततः सुकौशल के घर यौवनसुख भोगते हुए आनन्दपूर्वक रहने लगे।

—: द्वितीय वर्ग समाप्त :—

तृतीय वर्ग

इसी भरत क्षेत्र में विद्याधर नगरी सी विस्मय पूर्ण पेढालपुर नामक एक नगरी थी। उस नगरी के गृह उद्यानों में स्थित कुसुम गन्ध को वहन करने वाली वायु रात-दिन तरुणों की पोशाकों को सुगन्धित किये रहती थी। रात के समय उनके घरों में रत्न जड़ित सरणियों में नक्षत्रपुंज प्रतिबिम्बित होने के कारण पुरललनाएँ उनके स्पटिक निर्मित कर्णभूषण जमीन पर गिर गये हैं। इसी भ्रम से हाथ उठाती अर्थात् कर्णभूषण कान में है कि नहीं देखती। गृह स्थित पताकाएँ गृहरक्षक सर्प की भाँति हवा में उड़ती हुई गृहस्वामी की समृद्धि की सूचना देती थीं। नील के द्वारा जिस प्रकार वस्त्र रंजित होते हैं उसी प्रकार वहाँ के निवासी जिन धर्म की भाव धारा से अनुरंजित थे।

चन्द्र जैसे कलंकहीन उत्तम गुण सम्पन्न हरिश्चन्द्र वहाँ के राजा थे। अपनी अनुपम समृद्धि के कारण वे कुबेर के अनुज के रूप में प्रतिभासित होते थे। उनकी भ्रभंगिमा से श्री ने उनका दासत्व स्वीकार कर लिया था। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर वे मेधा और शक्ति के आधार रूप बन गये थे। उनका यश उनके असीमित ऐश्वर्य की प्रतिस्पर्द्धा करते हुए समस्त पृथ्वी में विस्तृत हो गया था। उनकी अमलिन यशोगाथा देवियों और विद्याधरियों के कण्ठ द्वारा वैताढ्य पर्वत की तलहटी में सर्वदा अनुगुंजित होती थी।

उनकी प्रधान महिषी का नाम लक्ष्मीवती था। वे जैसी सुन्दरी थी उसी प्रकार जिस प्रकार विष्णु को लक्ष्मी प्रिय है उसी भाँति राजा को प्राणों से भी ज्यादा प्रिय थी। उनका चरित्र, उनकी नम्रता, उनका प्रेम, उनका चातुर्य और अभिजात्य के कारण वे रात्रि में विकसित कुमुद के लिए चन्द्रिका की भाँति प्रति मानस के लिये चन्द्रिका तुल्य थीं। वे जब अपने पति से स्नेहपूर्वक बोलती तो राजा को लगता कि किसी ने उनके कानों में अमृत की सरिता प्रवाहित कर दी है।

कालान्तर में उन्होंने एक कन्या को जन्म दिया जो कि स्व-वैभव से प्रसूतिगृह के लिये मंगल दीपक हो गयी थी। जन्म से ही सर्व सुलक्षण युक्त वह कन्यामानों श्री ही मर्त्य देह धारण कर उनके घर आ गयी हो इस प्रकार अपने माता पिता को आनन्दित करती थी। इसके जन्म के साथ साथ ही उसके पूर्व भव के पति धनद पूर्व जन्म के प्रेम के कारण वहां आए और उस पर सुवर्ण वर्षा की उस वर्षा से प्रमुदित होकर राजा हरिश्चन्द्र ने उसका नाम कनकवती रखा।

एक गोद के दूसरी गोद में जाती हुई धात्रियों द्वारा पालित होकर उसने क्रमशः चलना सीखा तब राजा उसे एक शुभ दिन कला और शिक्षा के लिए एक उपयुक्त कलाचार्य के पास ले गए। उसने अठारह अक्षरों को अक्षरों के सृष्ठा की भाँति सीख लिए और व्याकरण को अपने नाम की तरह हृदय में धारण कर लिया। बाद में तो वह अपने गुरु को भी पराजित करने लगी। क्रमशः उसने छन्द अलंकारादि पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। भाषाकाव्य में भी उसने अधिकार जमा लिया। क्रिया और कर्त्ताहीन वाक्यों का भी वह अर्थ ग्रहण करने लगी। उसने शरीर संवाहन और रंधन विद्याएँ भी सीख लीं। इन्द्रजाल विद्या की भी अधिकारिणी हो गयी। संगीत के विविध क्षेत्रों में दूसरों को शिक्षा देने की योग्यता उसने अर्जित कर ली। फलतः ऐसी कोई कला नहीं रह गयी जिस पर उसने पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं किया हो।

अनन्य आकृति लिए लावण्य जल से सिंचित होकर क्रमशः उसने यौवनावस्था को प्राप्त किया जब सब कलाएँ फलप्रद होती है। अब उसके माता पिता उसके लिए योग्य पति खोजने लगे, किन्तु किसी को भी योग्य न पाकर उन्होंने स्वयम्बर का आयोजन किया।

एक दिन वह मृगनयनी अपने कक्ष में बैठी हुई थी। तभी सहसा कहीं से एक हंस उड़कर आया और वातायन पर बैठ गया। उसकी चोंच आँखें और पैर अशोक वृक्ष के नूतन पत्तों की भाँति अरुण वर्ण थी और देह समुद्र फेनसी श्वेत थी। उसके कण्ठ में स्वर्ण घन्टिका बँधी हुई थी उसका स्वर मधुर और चलनभंगी थी नृत्यपरक। उसे देखकर कनकवती सोचने लगी—लगता है यह किसी का पाला हुआ हंस है ना जाने यह कैसे यहाँ उड़कर आया है। चाहे यह किसी का भी रहा हो किन्तु यह आज से मेरा है। कितना सुन्दर है ये हंस।

ऐसा सोचकर हंसगति से चलती हुई उसने वातायन पर बैठे उस हंस को पकड़ लिया। वह देखने में श्री के शुभ चंवर सा लग रहा था। वह कमलनयन अपने कमलतुल्य हाथों से उसके सभी अंगों को दुलारने लगी मानों वह क्रीड़ा पद्म हो। फिर अपने शिरीष कोमल हाथों से जिस भाँति शिशु के केशों से खेला जाता है उसी प्रकार उसकी पूंछ से खेलने लगी।

फिर कनकवती अपनी सखी से बोली—एक काष्ठ पिंजरा लाओ जिसमें इसे रख सके। पक्षी कभी एक जगह नहीं रहता।' सखी के जाने के बाद वह हंस मनुष्य की भाषा में बोल उठा—'राजदुहिता तुम बुद्धिमती हो तुम मुझे पिंजरें में बन्द मत करो। मैं तुम्हें तुम्हारे पति के विषय में कुछ कहूंगा। मुझे छोड़ दो।

हंस को मनुष्य की भाषा में बात करते हुए देखकर कनकवती ने उसे छोड़ नहीं दिया—मानो वह आदरणीय अतिथि हो इस प्रकार उससे बोली—इसीलिए तुम्हें अब खूब पकड़कर रखना होगा। मेरे पति के विषय में तुम क्या कह रहे थे बोलो—कारण अपूर्ण संवाद मधुर से भी मधुर होता है।

तब वह हंस बोला—'वैताढ्य पर्वत पर कौशल नामक एक नगरी है। वहां कौशल नामक एक विद्याधर राजा राज्य करते हैं। उनके देवी जैसी एक कन्या है जिसका नाम है सुकौशला। उसके पति समस्त सौंदर्य के निधान और तरुण हैं। जिन्होंने भी उन्हें एक बार भी देखा है वे रूपवान् पुरुषों का रूप वर्णन करना भूल जाते हैं। वस्तुतः सुकौशला के पति अत्यन्त रूपवान् है। उनके जैसे रूपवान पुरुष तो दर्पण में ही मिलते हैं अन्यत्र नहीं। अपने रूप सौन्दर्य के कारण वे जिस प्रकार पुरुषों में चूड़ामणि हैं उसी भाँति रमणियों में तुम भी रूप सौन्दर्य की चूड़ामणि तुल्य हो। तुम लोगों का रूप सौन्दर्य देख कर तुम दोनों का मिलन हो इसी उद्देश्य से तुम्हें उनके रूप के विषय में बताया है और तुम्हारे रूप का वर्णन सुन वे तुम्हारे स्वयंवर में आ रहे हैं। नक्षत्र मण्डली में चन्द्र जैसे उनको राजाओंकी मण्डली में भी सहज ही पहचान जाओगी अतः इस समय मुझे मुक्त कर देने से तुम सौभाग्यवती बनोगी, बन्दी कर रखोगी तो अनर्थ हो जाएगा।

कनकवती सोचने लगी हंस की आकृति ग्रहण किये यह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। इसके माध्यम से मैं अपने पति को प्राप्त करूंगी। अतः उसने हंस को मुक्त कर दिया। तब उसने आकाश में उड़ कर उसकी गोद में एक चित्र फेंका और बोला—'शुभ्रे यह चित्र उन्हीं का है। वे जब यहां आएंगे तब इस चित्र के द्वारा तुम उन्हें पहचान लोगी।

तब कनकवती हाथ जोड़ कर अनुनय पूर्वक बोली—हे भद्र आप कौन हैं? कृपा कर मुझे बताएँ।

हंस रूपी उस विद्याधर तब स्वरुप प्रकट कर स्वर्ण कुण्डल मण्डित होकर दिव्य गन्ध, दिव्य वस्त्रों में अविभूंत हुए। बोले—'मैं चन्द्रातप नामक विद्याधर हूं, तुम्हारी और तुम्हारे पति की सेवा करने के लिये ही मैंने ये रूप धारण किया है और हां तुम्हें एक बात और कहना चाहता हूं—तुम्हारे स्वयम्वर के दिन तुम्हारे पति अन्य के दूत बन कर तुम्हारे पास आएंगे। उन्हें पहचानने में भूल मत करना। कनकवती भी अपने इस सौभाग्य पर प्रसन्न हुयी। वह उस चित्र में अपने पति को

नेत्र उन्मीलन-निमीलन कर देखने पर भी परितृप्त नहीं हुयी। अतः विरह यन्त्रणा से कातर होकर कदली की भाँति उस चित्र को कभी मस्तक पर कभी ओष्टों पर कभी वक्ष पर धारण करने लगी।

उधर दोनों का मिलन करवाने के लिये उद्ग्रीव चन्द्रातप विद्याधर नगर में गया। तदुपरान्त अपने विद्याबल से वायु की भाँति अस्खलित गति से रात्रि के समय कक्ष में जहाँ वसुदेव सोए हुए थे प्रवेश किया। वहाँ शुभ्रशय्या पर पत्नी सहित वसुदेव को सोए देखा। तब वह आगे जाकर वसुदेव की पदसेवा में प्रवृत्त हुआ। यद्यपि वसुदेव सम्भोग की क्लांति से गम्भीर निद्रा में निद्रित थे। फिर भी उसके हस्त स्पर्श से तुरन्त जाग गए। कारण श्रेष्ट पुरुष सहज ही जाग जाते हैं। गहन रात्रि में अपने कक्ष में अपरिचित पुरुष को देखकर वे जरा भी भयभीत नहीं हुए बल्कि सोचने लगे—

यह व्यक्ति मेरा शत्रु नहीं है। शत्रु होने पर चरण सेवा नहीं करता। सम्भवतः यह मेरी शरण चाहता है या यह मेरा शुभ-चिन्तक है। किन्तु सेवा निरत इस व्यक्ति से मैं चाहे कितना धीरे ही क्यों ना बोलूँ मेरी पत्नी जाग जाएगी। फिर जो मेरी सेवा कर रहा है उसकी उपेक्षा भी नहीं कर सकता। यदि मैं तटस्थ रहता हूं तो वह जब तक यहाँ है मैं सो नहीं सकूँगा। अतः पत्नी को बिना जगाए ही शैय्या से उठकर दूर जाऊँ और उससे बात करूं। क्रमशः

॥ संकलन ॥

समता को साध :

समता के बिना प्रत्येक मनुष्य दु:ख का जीवन जीता है। धन, पदार्थ, सत्ता अनुकूल योग—ये सारे सुख के परस्पर हेतु बन सकते हैं, अनन्तर नहीं सुख के निकट हेतु हो सकते हैं, निकटतम नहीं सुख का जो निकटतम साधन है, वह है समता—समता है तो पदार्थ भी सुख दे सकता है, सुख का कारण बन सकता है, यदि समता नहीं है तो हजार पदार्थ होने पर भी मन वेचैन, उदास, और संतप्त बना रहता है। इन सबको मिटाने के लिए आवश्यक है समता की साधना।

प्रेक्षाध्यान मार्च ९४ **आचार्य महाप्रज्ञ**

सौजन्य से :

BOYD SMITHS PVT. LTD.

B-3/5, GILLANDAR HOUSE

8, Netaji Subhas Road,

Calcutta-700 001

Phone Office : 220-8105/2139
Resi : 244-0629/0319

तित्थयर

वर्ष—१७

मई १९९३ से अप्रेल १९९४

कथानक

हेमचन्द्राचार्य	:	त्रिषष्टि श्लाका पुरुष चरित्र	२०, ४८ ७७, ११३ १४३, १८१, २१३ २४२, २७६, ३१५, ३४३, ३७१
		जगड़ूशाह	२३६

निबन्ध

महावीर की दृष्टि में मानव			३
डा० छविनाथ त्रिपाठी	:	व्यक्तित्व के विकास की संभावनाएँ	
मुनि श्री सुशील कुमार	:	जैन दर्शन और वैज्ञानिक दृष्टिकोण	१०
श्री कुन्दनलाल जैन	:	जैन साम्राज्ञी शान्तला देवी	३५

डा० श्री रंजन सूरिदेव	:	ऋषभनाथ की तीर्थयात्रा ब्राह्मण या वैदिक परम्परा से श्रमण परम्परा तक	४१
साध्वी डा० सुरेखा श्री	:	ऋषिभाषित सूत्र सम्बधीं अर्हत्-ऋषियों की अवधारणा	६७
		जैन नमस्कार मंत्र में अरिहंताणं पाठ पर विचार	७०
डा० रमेशचन्द्र शर्मा	:	मथुरा के जैन साक्ष्य	९९
डा० ऋषभचन्द्र फोजदार	:	पांडुलिपियों की सुरक्षा आवश्यक	११०
डा० मारुति नन्दन तिवारी	:	जैन महापुराण की कलापरक सामग्री	१३१
डा० रमणलालजी शाह अनुवाद : भंवरलाल नाहटा	: :	महाकवि इलगे अडिकाल कृत प्राचीन तमिल महाकाव्य सिलप्पदिकारम्	१६३
भोगीलाल सांडेसरा	:	हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मण्डल	१९५
डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल (शास्त्री)	:	राजस्थानी जैन सन्तों की साहित्य साधना	२६२
श्री राजकुमार जैन	:	ऋषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ	२९१, ३२३
डा० शान्तिलाल खेमचन्दशाह	:	जैन रामकथा का स्वरूप तथा विकास	३३०, ३५५
गणि श्री सुशील विजयजी	:	जैन धर्म एक व्याख्या	३४१
रामवल्लभ सोमानी	:	जैन पम्परा और चित्तौड़	३६१
नीरज जैन	:	खजुराहो का मन्दिर	३६६

संकलन

डा० प्रेमसुमन जैन	:	मूल्यांकन आज भी प्रतीक्षित है	३०
श्री चन्दनमल चाँद	:	केवल नाम के साथ जैन लिखना *पर्याप्त नहीं है*	५२
उपाध्याय श्री अमर मुनि	:	शास्त्रों को पढ़ लेने मात्र से कुछ भी हाथ नहीं लगेगा	९३
डा० नरेन्द्र भानावत्	:	महिला विकास शिक्षा और कानून के सन्दर्भ में	१२६
मुनि श्रीरविन्द्र कुमार	:	शल्य चिकित्सा पर्व—पर्युषण	१५८
डा० नरेन्द्र भानावत्	:	पर्यूषण पर्वाधिराज और हम	१९०
डा० नरेन्द्र भानावत्	:	युवा वर्ग क्रान्तिका वाहक	२२१
डा० नेमीचन्द जैन	:	सफेद तालाब का हँस	२४४
आचार्य महाप्रज्ञ	:	समता को साधे	३८१
		जैन पत्रिकाएँ कहाँ / क्या	३१,५३ ९४, १२७ १५६, १९१ २२२, २५४ २८८, ३२०, ३५२

चित्र

चौमुख मन्दिर के उत्तर भाग के स्तम्भ, शत्रुंजय	२
तीर्थंकर, तीरुच्चनाथु हिलस् कन्याकुमारी	३४
महावीर, नागराज मन्दिर नागेरकोयेल	६८
आयागपट्ट मथुरा	९८
भगवान् पार्श्वनाथ एलोरा	१३०
भगवान् पार्श्वनाथ नागराज मन्दिर नागेरकोयेल	१६२
घर देरासर के दरवाजे पर बनी लकड़ी की कलाकृति (तीर्थंकर के दर्शनार्थ देवगण का आगमन)	१९४
पार्श्वनाथ चौबीसी	३२६
देउल भिद्या, बांकुरा	३५४

WB/NC-330
Vol. XVII No. 12 **TITTHAYARA** **April 1994**
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77